



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2022; 8(4): 253-256

© 2022 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 13-06-2022

Accepted: 19-07-2022

सुजीत कुमार

पीएचडी शोधच्छात्र, संस्कृत

विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई

दिल्ली, भारत

आनन्दत्व स्वरूप ब्रह्मतत्त्व के संदर्भ में

सुजीत कुमार

प्रस्तावना

चेतना के प्रत्येक स्तर में, प्रत्येक प्राणी में एक अनवरत हलचल मची हुई है, एक कभी न रुकने वाली दौड़ चल रही है - कुछ पाने के लिये। प्रत्येक प्राणी विकल है उस कुछ के बिना। इस विकलता को ही नाम दिया जा रहा है दुःख। यह दुःख ही संसार में अधिकतर अनुभव में आता है। और अभीप्सित 'कुछ' को नाम दिया गया है सुख। यह सुख ही प्राणिमात्र की प्रत्येक चेष्टा का लक्ष्य है। क्या वह अभीप्सित सुख कभी अनुभव में आता है? सुख के लिये किया जाने वाला प्रयास सर्वदा ही असार्थक होता हो - यह तो नहीं देखने में आता, कभी-कभी कोई अभीष्ट वस्तु मिल जाने पर एक स्वस्तिबोध, हलचल में कुछ शान्ति, दौड़ का कुछ रुकना भी अवश्य देखा जाता है किन्तु बस क्षण भर के लिये ही, पुनः वही अस्थिरता, हलचल, हाहाकार उठ खड़ा होता है। इससे प्रतीत होता है कि वास्तव में जिस सुख के लिये यह आकुलता है, वह प्राप्त नहीं हो रहा है, यत्र-तत्र सर्वत्र केवल उसका आभास दिखाई पड़ता है जो मृगमरीचिका बनकर दौड़ में और भी वेग ला देता है। तब भी सुखतृष्णा मिटती नहीं। अवश्य ही एक अवस्था प्रत्येक प्राणी को प्रतिदिन ऐसी मिलती है जहाँ संसार की किसी भी वस्तु का, यहाँ तक कि अपने आप (जागरण के समय अनुभव में आते हुए स्वरूप) का भी भान नहीं रहता, तब भी ऐसा कुछ मिलता है जिसके कारण, उस अवस्था से बाहर आने पर प्राणी कहता या सोचता है कि इतने समय तक मैं सुखी था। कहना न होगा वह अवस्था है सुषुप्ति। वहाँ संसार का भान नहीं होता, अतः दुःख, शोक, भय आदि के निमित्त प्रतिकूल संवेदन, 'द्वितीय' व 'अनेक' के कारण उत्पन्न होने वाली विविध सीमायें, नहीं रहतीं, तुलना नहीं, अपना अहंभाव (मैं ऐसा हूँ) नहीं। इसीलिये सम्भवतः वहाँ के अनुभव का स्मरण सुख शब्द से स्फुट होता है। इससे प्रतीत होता है कि 'द्वितीय' व उससे प्रयुक्त सीमा, अतिशय, तुलना, भेद इत्यादि ही दुःख आदि के अनुभावक है। 'द्वितीय' की संभावना से रहित है वह परमतत्त्व जिसे सभी कुछ के 'मूल रूप से पाया गया है, वहाँ द्वितीय का अवकाश नहीं अतः उससे बढ़कर (अतिशायी) भी कुछ नहीं, अतएव वही वह सुख है जिसके लिये, जिसके 'बिना' होने की भ्रान्ति से, प्राणिमात्र विकल हैं।

Corresponding Author:

सुजीत कुमार

पीएचडी शोधच्छात्र, संस्कृत

विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई

दिल्ली, भारत

सुषुप्ति में उसी से 'विना' होने का भाव धुंधला हो जाता है, उससे पृथक् सा कर देने वाला अन्तःकरण विलीन हो जाता है, इसीलिये उसके अव्यवहित - जैसे संपर्क से प्राणी सुखो हो जाता है। (इझे सुषुप्ति के विश्लेषण में विस्तार से देखा जायेगा।) 'सुखी' का अर्थ है सुख-युक्त। सुख वह अद्वितीय सत् वस्तु ही है, क्योंकि वही निरतिशय, नित्य, निरवच्छिन्न (भूमा) है।¹ उसी से युक्त हो जाने के कारण हो सुषुप्ति में प्राणी सुखी होता है।।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्राणी में एक प्रियता की भावना देखी जाती है जिसे प्रेम नाम दिया गया है, जिसका आपाततः स्वरूप होता है किसी अन्य द्वारा अपनी स्वीकृति चाहना, किसी के लिये कुछ ऐसा करना जो उसकी प्रसन्नता का कारण बने। किसी को अच्छा समझना, किसी का सामीप्य चाहना, किसी के लिये कुछ त्याग करने में अच्छा लगना इत्यादि। इस प्रियता की भावना का वास्तविक आधार (आस्पद) भी वह जगत् का आधारभूत परमतत्त्व ही है ऐसा श्रुति ने निर्णय दिया- जागतिक सभी वस्तुओं (वे चेतन हों या जड़) में दिखने वाली प्रियता का निमित्त अपने आप (आत्मा) को ही दिखाकर² अनुभव भी उससे विरुद्ध नहीं क्योंकि स्वयं से अतिरिक्त जहाँ कहीं भी प्रियता-बोध है, वह अनुकूलता अथवा अच्छा लगना की अपेक्षा से ही है, और उस अच्छा लगने का भी मूल है अपना सुख। सुख तत्त्वतः द्वितीय-निरपेक्ष ही नहीं, द्वितीय - विरोधी है। 'द्वितीयाद् वै भयम्' इसीलिये, जो-जो वस्तु जितनी मात्रा में हमारे निकट या हमसे घनिष्ठ, हमसे व्यवधान या भेद से रहित-सी है वह वह उतनी ही अधिक मात्रा में प्रिय है। अतः अद्वितीय परमतत्त्व हो वास्तव में प्रियता का आस्पद है। क्योंकि वह हमारा अपना आप (आत्मा) ही है।

इन्हीं सब तथ्यों - प्राणिमात्र की सुखेप्सा, अद्वितीय तत्त्व में ही सुखत्व की सम्भावना सुषुप्ति में सुख का अनुभव, तथा अपने आप में ही सर्वाधिक या वास्तविक (उद्देश्यरहित) प्रेम को ही हेतु बनाकर आचार्यों ने परमतत्त्व का आनन्दस्वरूप होना सिद्ध किया है। तथा ब्रह्म का स्वरूपभूत आनन्द है क्या, इसकी क्रमशः अधिकाधिक स्पष्टतर व्याख्या की है।

योगवासिष्ठ में ब्रह्म के आनन्दत्व पक्ष की भावात्मक रूप से अधिक चर्चा नहीं हुई है। केवल प्रारम्भिक श्लोकों में कहा है - जिस आनन्दात्मा ब्रह्म से आनन्द के लघु सीकर (छींटे) आकाश व पृथ्वी पर बिखर रहे हैं, सभी प्राणियों का जीवन

जिसके लिये (उत्सृष्ट) है।³ सुख क्या है ? इसके लिये कहा है कि दुःख की सम्भावना का मिट जाना ही परम सुख है। अविद्या के क्षेत्र में चित्त के स्थितिकाल में दुःख ही दुःख है। इसकी निवृत्ति ही सुख है और वह आत्मरूप ही है (जैसे अन्धकार की निवृत्ति प्रकाशरूप होती है) - इस प्रकार पर्यवसित रूप से आत्मा (परमतत्त्व) की सुखरूपता कही गई है।⁴

आचार्य गौड़पाद ने माण्डूक्यकारिका में 'तुरीय' तत्त्व के वर्णन में उपनिषद् में कहे गये 'शान्त', 'शिव', 'अभय' विशेषणों की विवृति में तुरीय आत्मा (ब्रह्म) को सभी दुःखों की निवृत्ति में 'ईशान' (समर्थ) कहा है। यही उसके आनन्दत्व का अभिव्यञ्जक है, क्योंकि स्वयं आनन्द से पृथक् या भिन्न कुछ भी दुःखनिवारक नहीं हो सकता।⁵ पुनः 'सुप्रशान्तः' 'समाधिः' 'अभयः' विशेषणों से ब्रह्म की अनन्दरूपता कही है।⁶ क्योंकि भय से रहित होना सुखात्मक वस्तु में ही सम्भव है, वही प्रशान्त हो सकता है जो दुःख से अस्पृष्ट हो।

बृहदारण्यकभाष्य में आनन्द की भलीभाँति विवेचना हुई है। विज्ञान को आनन्द से अभिन्न रूप से ब्रह्म का स्वरूप कहा गया है। यह स्वरूपभूत विज्ञान विषय विज्ञान की भाँति दुःखानुविद्ध नहीं, प्रत्युत प्रसन्न, शिव, अतुल, अनायास नित्यतृप्त, एकरस है। यही, आनन्द का विवरण है।⁷ लोक में प्रसिद्ध सुखवाचक आनन्द शब्द का ब्रह्म के विशेषण रूप होने में अर्थतः कोई अन्तर है या नहीं ? मोक्षादि अवस्था में भी जो आत्मानन्द संवेद्य होता है, उस से भी भिन्न ही है ब्रह्म का स्वरूपभूत आनन्द; और कारक विभाग के अभाव में क्रिया-रूप विज्ञान भी सम्भव नहीं, अतः स्वरूपभूत विज्ञान भी पृथक् ही है। इस पर विचार करते हुए, ब्रह्म के समानाधिकरण आनन्द का स्वरूप लोक- प्रसिद्ध संवेद्य-सुख मात्र नहीं, असंवेद्य निरतिशायी आनन्द ही ब्रह्म का स्वरूप हैं, ऐसा निर्णय सुविस्तीर्ण विचार के पश्चात् किया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्य में बहुधा आनन्द - विवेचन हुआ है। ब्रह्म के स्वरूपभूत आनन्द के विवेचन में उसे विषयानन्द से पृथक् कर के उत्कृष्ट परम स्तर का कहा गया है। आनन्द का स्वरूप लोक प्रसिद्ध सुख के दृष्टान्त एवं तुलना द्वारा ही समझाते हुए लौकिक सुख की सीमाओं से रहित परम आनन्द को परमात्मा से अभिन्न परिपूर्ण एवं स्वाभाविक (किसी कारण से उत्पन्न न होने के कारण अनादि नित्य)

बताया गया है। उस आनन्द को ही छाया या आभास रूप मात्रा लौकिक आनन्द-रूप में प्रकट होती है।⁸

परिपूर्णता, निरतिशयता आनन्द का अनिवार्य लक्षण है, यह छान्दोग्यश्रुति के-'यो वै भूमा तत् सुखम्' के व्याख्यान में भी निरूपित है। उपपत्ति है अल्प का तृष्णा बीज होना और तृष्णा का दुःखबीज होना।⁹

उस भूमा का लक्षण करते हुए श्रुति ने ही उसे कारक - विभाग - युक्त दर्शन-श्रवण - विज्ञान आदि से रहित अभेद रूप बताया; जहाँ तक अन्य की संभावना है, द्रष्टा दृश्य का भी विभाजन है, वहाँ तक अल्पता कही और अल्पता का दुःखबीज होना कहा ही गया। अतः वास्तविक सुख का स्वरूप अभेदात्मक ब्रह्म ही है और वह अपने आप में ही प्रतिष्ठित है - ऐसा कह कर ब्रह्म के स्वरूपभूत सुख या आनन्द की स्वसंवेद्यता अथवा अन्यासंवेद्यता कही गई। फिर 'वही नीचे, ऊपर, पीछे आगे, सभी दिशाओं में हैं' कहते हुए उसकी परिपूर्णता कही गई। फिर उसी क्रम में 'यह सब भी वही है तथा अहङ्कारादेश (- मैं ही नीचे, मैं ही ऊपर) कहकर अनुभाव्य, अनुभविता एवं परम तत्व का अभेद दिखाकर आनन्द का आत्मस्वरूप होना विवृत किया गया। इन सुस्पष्ट श्रुतियों का आचार्यशङ्कर द्वारा भाष्य भी उन्हीं युक्तियों का अनुगामी है।¹⁰

मण्डन मिश्र ने ब्रह्मसिद्धि में ब्रह्म के आनन्दत्व पक्ष की विशेष विवेचना की है। मङ्गलाचरण में ही ब्रह्म का प्रथम विशेषण आनन्द है, उसके अभिप्राय की चर्चा में कहा है कि कुछ मनीषियों के मतानुसार आनन्द शब्द दुःख का अभाव ही बताता हुआ ब्रह्म में सार्थक है, कोई भावरूप धर्म इसका वाच्य नहीं। किन्तु ब्रह्मसिद्धिकार को वह अभिमत नहीं। अतः अपना मत कहा है कि ब्रह्मानन्द (ब्रह्म रूपी आनन्द) भावरूप है, अभावरूप नहीं। क्योंकि - (१) जागतिक आनन्द की भावरूप में ही उपलब्धि होती है। 'इतने समय मैं दुःखी न था' ऐसी अनुभूति न होकर 'मैं सुखी था' ऐसी होती है। 'यह प्राप्त होने से मुझे दुःख न हुआ' तथा 'यह मिलने से मुझे सुख हुआ' इन प्रतीतियों में बहुत अन्तर है।¹¹ वह जागतिक आनन्द ब्रह्मानन्द का ही अत्यन्त क्षुद्रतम अंश अथवा आभास है, अतः ब्रह्मानन्द को भावरूप ही मानना उचित है। (२) उपनिषदों में आत्मा को पुत्र - मित्रकलत्र इत्यादि सभी कुछ से अधिक प्रिय कहते हुए परम प्रेम का निदान कहा गया है। यह आत्म-प्रेम भावरूप में ही गृहीत

हुआ है। प्रेम ही आनन्द है, अतः आनन्द भी भावरूप होना चाहिये।

यह आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है, कोई गुण या धर्म नहीं, अतः ब्रह्म की निविशेषता का व्याघातक नहीं। स्वप्रकाश चैतन्यमय ब्रह्म सुखरूप है यही 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म श्रुति का तात्पर्य है। ये आनन्द व विज्ञान भिन्न वस्तुयें नहीं हैं। दोनों संज्ञाएं एक साथ देने का अभिप्राय ब्रह्म का जड़ वस्तु व दुःख-स्वरूपता से वैषम्य दिखाना ही है।¹²

संदर्भ

1. यो वै भूमा तत्सुखम्। छा० उ० ७।२३।१॥
2. न वो अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। बृह० उ० ४।५।६॥
3. स्फुरन्ति सीकरा यस्मादानन्दस्याम्बरेऽवनौ। सर्वेषां जीवनं यस्मै तस्मै ब्रह्मानन्दात्मने नमः ॥ यो० वा०।१।१।३
4. यत्सुखं दुःखमेवाह क्षणनाशानुभूतिभिः। अकृत्रिममनाद्यन्तं यत्सुखं तत्सुखं विदुः ॥ यो० वा० ६६।८।३१
5. निवृत्त सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः। अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः ॥ मा० का० १।१०
6. सर्वाभिलापविगतः सर्वाचिरतासमुत्थितः। सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः ॥ वही ३।३७ ॥
7. विज्ञप्तिर्विज्ञानम्, तच्च आनन्दम्, न विषय विज्ञानवद् दुःखानुविद्धम्, किं तर्हि? प्रसन्नं शिवमतुलमनायासं नित्यतृप्तमेकरसमित्यर्थः। अत्रेदं विचार्यते आनन्दशब्दो लोके सुखवाची प्रसिद्धः अत्र च ब्रह्मणो विशेषणत्वेन आनन्दशब्दः श्रूयते - आनन्दं ब्रह्मेति। श्रुत्यन्तरे च- "आनन्दो ब्रह्मति व्यजानात्" (तै० उ० ३।६।१) "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" (तै० उ० २।१४।१) "यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तै० उ० २।१८।१) "यो वै भूमा तत्सुखम्" (छा० उ० ७।२३।१) "एष परम आनन्दः" (बृह० उ० ४।३।३३) इत्येवमाद्याः। संवेद्ये च सुखे आनन्दशब्दः प्रसिद्धः; ब्रह्मानन्दश्च यदि संवेद्यः स्याद् युक्ता एते ब्रह्मण्यनन्दशब्दाः। "न, विरुद्धश्रुतिवाक्यदर्शनात् अथ विच्छिन्नमात्मानन्दं विजानाति विज्ञानस्यात्मविज्ञानस्यात्मविज्ञानाच्छिद्र अन्यविषयत्व प्रसङ्गः; विक्रियावत्त्वं ततश्चानित्यत्वप्रसङ्गः; तस्माद् विज्ञानमानन्दमिति स्वरूपान्वाख्यानपरव श्रुतिः, नात्मानन्दसंवेद्यत्वार्था

- ।..... "एषोऽस्य परम आनन्दः" इतिवत् आत्मनश्च सर्वाण्यानन्दवाक्यानि द्रष्टव्यानि । बृह० उ० ३।१।२८ पर भाष्य
8. किमानन्दो विषयविषयिसम्बन्धजनितो लौकिकानन्दवद् आहोस्वित् स्वाभाविक इत्येवमेषाऽऽनन्दस्य मोमांसा । तत्र लौकिक आनन्दो ब्राह्म्याध्यात्मिकसाधनसंपत्तिनिमित्त उत्कृष्टः । स य एष निर्दिश्यते ब्रह्मानन्दानुगमार्थम् । अनेन हि प्रसिद्धेनानन्देन व्यावृत्तविषयबुद्धिगम्य आनन्दोऽनुगन्तुं शक्यते । लौकिकोऽप्यानन्दो ब्रह्मानन्दस्यैव मात्रा अविद्यया तिरस्क्रियमाणे विज्ञान उत्कृष्यमाणायां चाविद्यायां ब्रह्मादिभिः कर्मवशायथाविज्ञानं विषयादिसाधनसम्बन्धवशाच्च विभाव्यमानश्च लोकेऽनवस्थितो लौकिकः संपद्यते । "निरस्तं त्वविद्याकृते विषयविषयिभागे विद्यया स्वाभाविकः परिपूर्ण एक आनन्दोऽतो भवति । "अभिन्नः स्वाभाविक आनन्दः परमात्मैव न विषयविषयिसम्बन्धजनित इति ।, तै० उ० २।८।४ पर भाष्य ।
9. यो वै भूमा मन्निरतिशयं बहु, इति पर्यायास्तत्सुखम् । ततोऽर्वाक सातिशयत्वादल्पम् अतस्तस्मिन्नल्पे सुखं नास्ति । अल्पस्याधिक तृष्णाहेतुत्वात् । तृ णा च दुःखबीजम् । अतो भूमैव सुखम् । तृष्णादिदुःखबीजत्वासम्भवाद् भूमः ॥ छा० उ० ७।२३।१ पर भाष्य ।
10. यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत् पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम् । यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् । स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः इति । स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति ॥ छा० उ० ७।२४।१ । स एवाधस्तात् स उपरिष्ठात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमित्ययातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्ठादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति ॥ छा० उ० ७।२५।१
11. सकलदुःख दुःखातिगे ब्रह्मतत्त्वे दुःखेभ्य उद्विग्नः सुखेभ्यश्च वीतरागः प्रवर्तनानो मुच्यते । आनन्दश्रुतयश्च सकलदुःखातिक्रममेवाहुः, दृष्टो हि दुःखादिनिवृत्तौ सुखशब्दः सैव च सुखमित्यन्ये । तान् प्रत्याह- आनन्दमिति न तावदुः खनिवृत्तिरेव सुखम् दुःखनिवृत्तेरन्यदेव सुखम् । स चानन्दशब्दस्य मुख्योऽर्थः। ब्र० सि०, पृ० १ ।
12. तस्मादात्मप्रकाशप्रकृष्टानन्दस्वभावमेव ब्रह्मेति युक्तम् । एवं च लौकिकानन्द एतस्य मात्रेति युज्यते,

अवच्छेदात्, दुःखनिवृत्तौ तु दुर्योजमेतत् । इतश्चानन्दस्वभाव आत्मा, परप्रेमास्पदत्वात् । श्रूयते हि परप्रेमास्पदत्वम् - तदेतत्प्रेयः पुत्रात् इति । ब्र० सि०, पृ० ५ ।